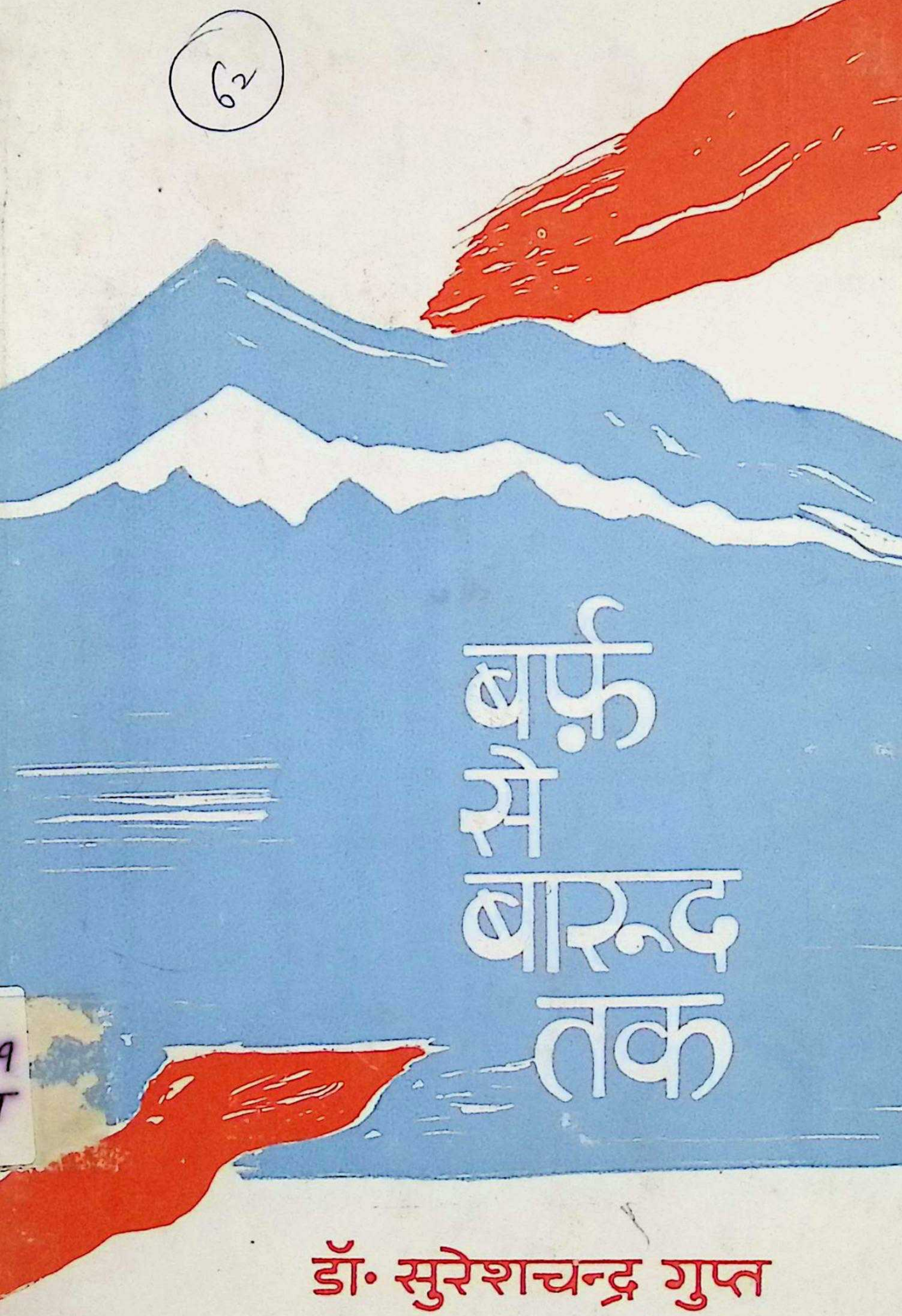


बर्फ़ से बारूद तक

डॉ॰ सुरेशचन्द्र गुप्त

कविता के गुलाब की गन्ध दूरव्यपी होती है; कोई वन, उपवन या शिलाखंड—यहाँ तक कि धुआँ-भरा मन उससे वंचित नहीं रहता। **'बर्फ़ से बारूद तक'** इसी गंध को आर-पार पहुँचाने का प्रयत्न है। बर्फ़ का ठंडापन परिवेश को न लील ले, इसी भावना से बारूद-सी भाव-क्रान्ति अर्थात् विकास की सतत अबूझ प्रक्रिया इस संग्रह की कविताओं में ऊर्ध्व-मुखी है।

चेहरे की झिल्लियों को उतारकर अनाविल रोशनी की ओर जाने में ही इन कविताओं की सार्थकता है।

बर्फ़ से बारूद तक

(कविता-संग्रह)

डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त

अर्चना पब्लिकेशन्स, मेरठ

प्रकाशक :
अर्चना पब्लिकेशन्स
२८६, चाणक्य पुरी, सदर,
मेरठ-१

प्रथम संस्करण : १९८६
मूल्य : ३०.००

मुद्रक :
भारती प्रिण्टर्स
दिल्ली-३२

सन्दर्भ

अपने प्रति निष्ठा है, तो बर्फ़ क्या, बारूद क्या ! सर्वत्र एक अद्भुत आत्मीय सम्बोधन मिलेगा। इसके विपरीत प्रेरणा का प्रवेश चोर-दरवाज़े से हुआ हो, तो सिंहद्वार की गरिमा उसमें कहाँ से आएगी ? पराजित मनोभूमि में आदान का मोह तो पनप सकता है, कस्तूरी की गमक नहीं। प्रस्तुत संग्रह की कविताएँ इसी भाव-भूमि से अंकुरित हैं। इनकी विषयवस्तु न तो अनागत है, न अगोचर—पूरे परिवेश में बिखरी पड़ी है।

अतिरंजित और अवास्तविक को चाहे बर्फ़ में दफ़ना दें, चाहे बारूद से उड़ा दें—परिणाम एक ही होगा। आज का मनुष्य दोनों सन्दर्भों में जी रहा है, किसी विकल्प की खोज उसे है भी नहीं। लावायी प्रवाह में वह ठहर नहीं पाता, किन्तु अग्निपथ की पहचान उसे पूरी है। हो सकता है, यह पहचान आनेवाले प्रभात को ऊष्मा और अभिनव आलोक से मण्डित कर दे। अँधेरे की परतों को भेदकर प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में इसी आस्था और विश्वास को जगाने के लिए गुदगुदाना **बर्फ़ से बारूद तक** की कविताओं का लक्ष्य है।

हर्ष और उल्लास जीवन के सीमित अनुभव हैं, मन की अतल गहराइयों में झाँकने पर अधिकतर अनन्त चीत्कार की रेखाएँ ही दिखेंगी। कल्प-भवन की ओर उठी सूनी उदास आँखें, बूंद-बूंद टपकती खपरैल का दरार-भरा शून्य—ये और ऐसी ही अन्य स्थितियाँ जब भी मन को उद्वेलित करती हैं, तब पार्श्व में संगीत की लहरें चाहे जितनी भी प्रवाहित रहें, अपने स्पर्श से सिर्फ़ व्यग्र ही करेंगी। इस सत्य को नकारना आज के कवि के लिए संभव नहीं है। इसीलिए कविता न केवल पूर्ण अनुभूत सत्य को प्रतिष्ठित करती है, भग्न जीवनानुभूतियाँ भी वहाँ अपनी संघर्ष-भूमि पा लेती हैं। पाषाण-खण्डों के बीच बहती निर्झरिणी और कमल-पत्र के बीच ठहरी ओस की बूंद, दोनों ही मार्गदर्शक हो सकती हैं। लक्ष्य एक ही है—विराट् शून्य में अपने अस्तित्व को खोज पाना।

संग्रह में पैंतालीस कविताएँ हैं—तमस से ज्योति-पुंज की ओर जाने के नुकीले प्रयत्न की प्रतीक ! मेरी दृष्टि में बर्फ़ीली निस्पन्दता जीवन का रिक्थ नहीं है, उसे

आदिम कोलाहल चाहिए। इसी तरह छलना और प्रवंचना भी अवरोध-भर नहीं है, मन के लावे को दहकाना इन्हीं की परिणति है। अपराजेय है व्यक्ति और इसी से अकुंठित है उसकी अभिव्यक्ति! मार्ग चाहे जितना विषम हो, गन्तव्य तो यही है।

सन् १९८३ से ८५ के मध्य लिखी गईं ये कविताएँ इसी उतार-चढ़ाव के साथ पाठकों को समर्पित हैं।

—सुरेशचन्द्र गुप्त

सी-८८, इन्द्रपुरी
नई दिल्ली-११००१२

अनुक्रम

ओ, मेरे बिम्ब !
रचना होगा तुम्हें स्वयं
श्रम का वेद,
पैनाने होंगे
नुकीले शब्द
दहकते लावे
तमस को भेदने को,
जोड़नी होगी प्रत्यंचा
टूटे धनुष की !
ओ, मेरे बिम्ब !

दायित्व-बोध

कंप्यूटर की कृपा से
जीवन हो गया है गणित
सर्वाधिक महत्त्व उसमें शून्य का,
उसी के फलित रूप हैं
शत···सहस्र···कोटि सहस्र !
इसीलिए—
जीवन-रेखाएँ
हो जातीं अनुशासन-विहीन,
और, कभी—
संदर्भ की धनी भी !

लक्ष्य होता है किसी का
शिखर पर्वत का
कुछ खोजते अमृत
विष की तहों में,
किन्तु, अधिसंख्य वे
डरते हैं व्यूह से,
जाने गिर पड़ें कव
ऊँचे-से ढूह से !

ग्राफ़ कैसा खींचें हम
विगत और आज का ?

भटकन, ऊँचाइयाँ
खेल साँप-सीढ़ी का,
जितने बल खाती है
चिन्ता अस्तित्व की
अपेक्षित है उतनी ही
दायित्व की चाँदनी,
बदलती है उसी से
किसी की मानसिकता,
प्रतीक-भर रहती नहीं
गौरव की शिखा
परिवेश का हर कण
लगता है अपना-सा !

भविष्य-वृत्त

कल शाम
···अजूबा हुआ
कलियों के पँखुराते हाथों ने
खींच लिया कन्धों से
ज़िन्दगी का जुआ,
मैंने समझा—
महज़ मज़ाक इसे
किन्तु, मुस्करायी कली
और भविष्य कह दिया !

आँधी-आवर्तों में
लिपटा हुआ मैं
सुनता हर शाम था
(तपते मध्याह्न-सा)
झुलसता···झुलसाता संगीत !
लेकिन कल शाम
अंकुर फूट उठे
भावी की फ़सल के !

भविष्य—एक अनदेखा चेहरा,
छाता तानता
स्वेद-विन्दुओं पर,

न जाने किस झोंक में···
सिखाता तकनीक
उलटी हवा बहाने की,
विवर्ण मुख-मुद्राओं
या यों कहें—
तहाए काग़ज़ों में
पूरा भविष्य-वृत्त
सहेज लाने की !

अमरबेल-सी मुस्कान

आस्था से···खुशामद तक
एक पूरी पीढ़ी
जल-बुझ रही है,
वर्तमान से टूटी
फँस गई जाल में
मछली निरीह;
फल चाहिए जिसे
तीर्थ के दुकूल का !

सफलता के यश तक
पहुँचते हैं द्वन्द्व ही
परम्परा की रुई को
संघर्ष धुनते हैं,
टेढ़ी हो गईं उँगलियाँ आज
छू रहीं फिर भी
शिखर के मार्ग को
महकते बन्दनवार को !

अवांछित है
प्रश्नचिह्न की वक्रता
चाहिए नहीं
भविष्य की शक्रता

वर्तमान अनियमित
नाचते शून्य-सा
ठिठुरे प्रभात में
कीलित हुए हम !

हम···उठे तो थे
गजरदम
समझ नहीं पाए पर
अपना ही ग़म
उढ़का दिया
स्वप्न के पल्लों को,
सोचते हैं अव
तन्द्रा से उवरने को
मुस्कान-सी फलने को
गहरे जमा दें कहीं
अनझिपी बेल को !

अमृत-सरोवर

जब भी कोई विवशता
चुभती है कील-सी
दर्द की छाया सिमट
कवच बन जाती तुरत
गमकते फूल-सी,
उँगली से झाँकती
चटकीली धूप-सी
कील की चुभन तब
पुरवाई ममता से
धीरज बँधाती है !

समाज के डसाव से
अयाचित कसाव से
उदासीन होती जब भी संवेदना
छीजती, दुबकती गुहा में
क्षीणगन्ध होती है !

दुविधाग्रस्त होते हैं
गूंगे विषाद जब
पगध्वनि करते नहीं
फिरकी बने घूमते हैं,
कारा में दरकते

रिसते-से भाव
मिटाए नहीं मिटते
समय के घाव !

अधमरी हो गईं
घिघियायी कामनाएँ
अंकित हुईं
तन ही नहीं, मन पर भी
अधूरी साधनाएँ।

हत्यारे कुहरे में
धुँधियायी कल्चर
काटकर कुपतवार
जमानी है नर्म घास
थिरक सके होंठ पर
जिससे···वसन्त-गीत !
दर्द के पंख खोल
उड़ना है व्योम में
बूँदें टपकानी हैं
कुण्ठा निचोड़कर,
रश्मि-ज्वार लाना है
अमृत-सरोवर में !

बदबख्त

रफ़्ता-रफ़्ता बीत रही है
सोज़ की दास्तान
बिथुर गए द्रवण सब
सर्द तन्हाई में,
क़यामत में फँस गए हैं
फ़साने ज़िन्दगी के
साँस का सहारा भी
फ़रेब-सा लगता है !

नवाज़िश है आपकी
दरगुज़र करते
डगमगाती नासमझियाँ,
करते नहीं एतराज़
संकुचित ख़ामोशियों पर
न ही चिपकाते···टिप्पणी
शहर के बीच में !

कल से भड़क रही है आग
चौराहा-दर-चौराहा
अकुलाहट है उनमें
फ़िलहाल फ़ेल थे जो
ज़माने पर फैली है

जिरह किसी बदबख़्त की
मोर्चे बनाती है
झुर्रियों के बीच में !

फुसफुसाती हैं
कुछ आवाज़ें
पत्थरों के कान में—
'बरसो, टूट पड़ो इस पर
आँधी, थकन, अँधियार !
वरना रुकेगी नहीं
तीव्रगति दुर्धर्ष धार इसकी,
चीर देगी विरोध के अस्तित्व को
इसकी उफनती चेतना !'

बौना मनुष्य

विकल्प तो बहुत हैं
लेकिन, बीच डगर रुक गए
चलते पाँव
ध्रुवतारा मिलता नहीं
प्रश्न ही प्रश्न हैं
सब ठाँव !

छुटा भर था जाल से
शिलाएँ मिल गईं
तपता हुआ माथा
उफ़ ! भावनाएँ हिल गईं !
जाने अब कौन-सी
खन्दक है भाग्य में
परतन्त्र हो गया हूँ
शैतान की दुआ से !

खोजता हूँ मठों में
विहारी कृष्ण को
लेकिन, मूर्तियाँ विप्राण हैं !
कृष्ण रहते हैं कहीं
नभचुम्बी होटलों में

वीडियो की धुनों पर
रास होता है नया !

मृदा-संसार में
प्रस्तरी प्रसार में
सरोदवादक है कहीं
तो कोई बजाता बाँसुरी
सभी कलाकार हैं !
अंकित करते हैं हवा में
तरंग की लकीरें
कैसे भी तेवर हों
उठते तूफ़ान के !

लेकिन मैं : अक्लिन्न पुष्प-सा
कर रहा इन्तज़ार
उस क्षण का
हवा का नरम बहाव
यायावर बनाएगा !
रुद्र है···मौन है
आज काल-देवता
मुखौटे लगाकर
छलता बहुत है !

मिनी समझ

बाँसुरी के बोल-से
कोमल किशोर जो
चटक धूप खिलने पर
कल तरुण होंगे वही
सरकंडों के वन में
तक्षक से जूझेंगे,
सीमित न रखो इन्हें
किसी एक तलैया तक
किलोल करने दो
मचलते समुद्र में !

लौट रहा विरूप हो
पाषाण-युग
प्रकृति परम क्षुब्ध
सभ्यता की साँझ में,
आदमी का लहू अब
अभद्रों की दया पर है
असंज्ञ और असंग
सस्ता चाय से भी;
चील हों या गिद्ध
हावी हम सभी पर,
चूहे कुतरते
नक़ाब चेहरे की !

वहुत बदल गई फ़िज़ा
इधर कुछ सालों से
अच्छी-भली समझ में
पड़ गईं सौ दरार,
जकड़ गई रुद्ध देह
व्यर्थ अर्थ-भार से
इसलिए सहार दो
प्रबुद्ध प्राण-राग से,
उष:स्नात होने दो
किशोर के क्षितिज को
पकड़ना है अभी उसे
समाज की नब्ज़ को
करने हैं स्वच्छ सब
अन्धकूप उस ही को
करनी है बंद गंध
सुविज्ञ मुट्ठियों में !

बँधुए

विगत के भूस्वामी
कृषकों के कर्णधार
मिलेंगे कभी नहीं
बीच मँझधार !
        बड़े गुनी हैं वे
        निष्काम रहते हैं
        तेवर वही
        सिर्फ़ पहचान बदली है !

डसते हैं रोज़ वे
निष्क्रियता की झोंक में
थोड़े-से विष को
रख जीभ की नोक में,
कर लेते हैं सम्मोहित
हिरनों के झुंड को
फेरते हैं स्याही
उभरते इरादों पर,
        आख़िर तो—
        प्रजा हैं उन्हीं की
        बँधुए खेतिहर !

पूरब का सूरज
रोज डूबता है पश्चिम में

बदमिज़ाज इतिहास भी
रुक सकता है
क्षण में,
प्रतीक्षा है सभी को
साँस की ताज़गी की
आत्महन्ता 'आज' से
मुक्ति चाहते हैं सब !

स्वतन्त्रता बहती है
इनकी भी शिराओं में
बँधुआ नहीं था
बीज पुरखों का,
फिर क्यों बनें ये
धुरी—
दूसरों के पहियों की ?
अन्दर का ताप
खिलता हुआ गुलाब
जाने कब सँवार दे
टूटी-सी ज़िन्दगी !

ध्रुव-रश्मि

चर्वित हो गई हैं अनुभूतियाँ
अमृत नहीं रहीं वे
कनफटे जोगी-सी
सींगी फूँकती हैं !

कैसा है इत्तफ़ाक
रीता अनुभूति-पात्र
ढूह बन गईं भावनाएँ,
प्रसव-सी वेदना :
ध्रुव-रश्मि जनने की,
मिथ्या में भ्रम
भ्रम में सत्य पाने की !

अभिनय नहीं है संवेदना यह
आत्मवत् लगता अस्फुटित-सा
पालिश करता फुटपाथी किशोर
पुष्प : वृन्त से छिन्न
प्रकाश का स्रोत !

संगीत रचते हैं
अहर्निश चक्रित मशीनी पहिये
सघन है अनुभूति-नाद उनका
स्नेह के दीप···संभव है, कहिए !

रंगोली गाता है
क़तरए-क़तरा ख़ून
प्रतप्त मन रिक्त गुहा
रक्तदान···चुकता चून !

परिवर्तित हो गए हैं सब भरम
अन्ध क्षण चरण वन
ज़ीने चढ़ाता है,
माथे का फोड़ा अब
बुद्धि बढ़ाता है !

एक और दिन

नेताओं के भाषण,
मंत्रियों के आश्वासन,
सप्ताह-भर आयोजन,
परिसमाप्ति विकिरण
स्तब्ध जन-जीवन !
—उदित होता
इन्हीं के मध्य
वर्ष प्रति वर्ष
गणतंत्र - दिवस,
इसकी-साँसों में महकता
देश का अतीत
आज का गीत
भविष्य की कल्पना,
लापता फिर भी संवेदना,
दिशाएँ मौन
सुगबुगी नहीं होती !

अवास्तव हो गया है सव-कुछ—
क्रिसमस हो या ईद
दशहरा, दीपावली
लगते···फ़िल्मी परिदृश्य,
छोटे-बड़े घरों में आकुल

बैसाखियों पर चलने को विवश
अजस्रता स्वप्न है जिनके लिए
क्या संगति इनकी उनके लिए ?
खर्व हो गए हैं
सांस्कृतिक पर्व,
अपने से मुँह चुराने के
साधन-भर हैं,
सुलझेगी नहीं इनसे समस्या कोई !

इसीलिए तो लोग
झंडे गाड़ते अपने
कोलाहल के खेतों में,
मनाते सहर्ष झूम
जनमदिन
विवाह की वर्षगाँठ,
शेष सब जैसे
साधारण-से
पंख झड़ गए
बिना ही कारण के !

रुबाइयाँ

राजहंस तुम नहीं श्वेताम्बर
हम हैं राजहंस मलिनवेष।
हमारा ही पसीना है
तुम्हारे कमलालयों में,
अपदेवता तुम
पुज चुके एक बार
पुजापा चाहते क्यों
रोज़-रोज़ ?

प्रिय हैं तुम्हें
मछलियाँ सुनहरी
बनवाते झील
भवन की छतों पर,
और, हम—
अबोले शब्द
स्तुति-गीत गाते हैं;
जानते हैं—
प्रभु हैं तुम्हारे पक्षधर,
पोशाक पहनाते
हर साल उन्हें
पिछले साल तो
मुकुट भी बनवा दिया था !

हमारे लिए तो
कँटीले रास्ते सब
तुम्हें सामुद्रिक
गुलाब बाँटते हैं,
वरदान मिलते हैं हमें—
उमठी हुई हड्डियाँ !
उँगलियाँ टेढ़ी !
या कटे पैर !
जबकि तुम्हारी ख़ैर, ख़ैर, ख़ैर ही ख़ैर !!

अशान्ति और अभाव
लोरी लगते हैं हमें
हमारे लिए ये ही हैं···
थिरकती रुबाइयाँ !

नये आयाम

सुबह तो अच्छे-भले थे
दस-बीस सफ़ेद बाल
उँगलियों ने चुने थे
तिकड़म की सलाई ले
फन्दे भी बुने थे
पर, पता नहीं
कौन मक्कार मिल गया कहाँ
बर्फ़ की शिला पर
लिटा दिया वहाँ !

तुम तो प्रवीण थे
डुगडुगी पीटने में
बड़ी पानीदार थी
प्राण-शक्ति तुम्हारी
पहचान लेते तपाक
तासीर मक्खन की !

अवाक् क्यों हो ?
खो गई किस तरफ़ दृढ़ता तुम्हारी
मैला हो गया भोरता नभ क्यों
गिर गए उझककर
अखूटी बावड़ी में !

अब तक तो
विराट् मानते थे तुम
अधकचरे यत्नों को
तोल लेते
क्षण का लक्षांश
अस्मिता-पुत्र !
लेकिन अब—हीनस्कन्ध, प्रणत,
है अस्तमित अस्ति क्यों ?

बीसवीं सदी की शाम
नए आयाम !
दुबली-थकी नारियों को
शंका से देखते,
घोल लेते उन्हें
शैम्पेन के झाग में !
सुख पाते ख़ूब
औरों को गिरा के
जेबें भरी हैं
ईश्वर की कृपा से !

सत्य की हिरनी

टूटकर—
व्यूह में निस्सहाय हो गया है
स्वाभिमान !
हो गई कुंठाग्रस्त
सत्य की हिरनी,
लेनी है टक्कर
तो रहिए नहीं पिलपिले
बने रहिए फिर भी
फ़िलहाल
वात के धनी !

काला पड़ गया है सूरज मई का
अभिमंत्रित व्योम में,
उड़ना चाहते विहग
दिशा मिलती नहीं;
तरसकर रह गए
हम ग़रीबी की दवा को
हो गया है पीलिया
आवारा हवा को !

हथेली फैलती नहीं
खिसिया गई अपमान से,

दो-चार नहीं
हज़ार बार;
घृणा-दान से !

रसौत-सा कड़वा
लगता राम-नाम
झपटते हैं हम पर
विधाता वाम,
होता नहीं यकीन
अमृत छिड़कना है किसी को
अशान्त झुर्रियों
विबद्ध अस्थियों पर !

अफ़सोस तो यह—
झुकते रहे
फटीचर चेहरे,
हो गए बेदम
हवाबाज़ हम
लाँघ पाये नहीं
अपने ही
देहरे !

अधूरा शंख

जब डूबता उतराता है
कुहासे में वर्तमान
खाँसते निष्क्रिय-से
सिद्धान्तवादी (?) प्राण,
पहचान होती ही नहीं
चेतना के गीत की
स्वायत्तता दुबकी पड़ी
झोंपड़े में भीत-सी !
सवार होता तब
कवि पराजय-पीठ पर
चौराहे के बीच खड़ा
रुद्र गीत गाता है !

जब भी उफनती है
मन में आग की नदी
अपनी बेहोश नींद से
जागते हैं हम,
अंकित करते चरण-चिह्न
क्षितिज के भाल पर !
किन्तु, आज—
अग्निपुत्र कलाकार
भीड़ के अंग बने
भीड़ में खो गए !

जकड़न यह कैसी
ख़ुद को अलगा लो
समाज को बदलना है
तो खोह से निकालो,
शिथिलता से—
कविता की आग बुझ जाएगी
पंक्तियों की अरथी पर
शब्द-लाश बिछ जाएगी !

समाज की शिराओं को
रक्त देना है तुम्हें ही
झेलने हैं शूल
चुभें चाहे जितने भी,
होना है मुक्त
इस वाहियात मौसम से
(तनाव की गिरफ़्त से)
और फिर, किसी सुबह
प्राण-वायु भरनी है
बिछलते अधूरे
जागरण-शंख में !

विरूपाक्ष

जब कभी
हाँफता पसीना
तुम्हारी पेशानी पर
—मुझे बहुत भाता है !
तुम्हारी हर परेशानी
बीजती खुशहाली मुझे
फिर भी पूछता अक्सर
हाल तो सब ठीक है ?

तुम हो मेढक
स्वभाव से साँप मैं
जाने किस क्षण
कमज़ोरी भाँप लूँ !
इकहरा समझो न मुझे
महज़ व्योम-पाँखी नहीं
विरूपाक्ष बाज़ हूँ
पकड़ता दुर्दान्त
तुम-जैसे पक्षियों को !
कह सकते हो
मगरमच्छ मुझे
मछलियाँ जबड़ों को सुहाती हैं,
निरीह नहीं हूँ

फँसता नहीं
चक्रव्यूह में !

गिलहरी-से उतरते
या चढ़ते हो सहमकर
संघर्षनिरत
छायादार वृक्ष पर,
बुरा ही नहीं
बहुत बुरा लगता है मुझे;
क्योंकि, प्रतीक्षा है—
मुझे, मेरे पिट्ठू को
तुम्हारे गतिहीन होने की !

आघात

रोज़ उठती है पदचाप
सरोवर से साँझ को।
आता चन्द्रमा
वत्सल पिता-सा !
रोज़ खिलते हैं फूल
सरोवर की लहरों पर
रोज़ बैठती चिरैया
ऊँची वट-फुनगी पर,
रोज़ बिना नागा
अनुभूति जागती है !

आज है सब भिन्न
सुबह से मन खिन्न
क्योंकि कल रात
कोई एक चिड़चिड़ी चिड़िया
—खीझी हुई बुढ़िया—
बड़बड़ाती रही
रात-भर !

मैं, सरोवर और चिड़िया
डरते हैं तीनों
बेहया कंकड़ों से,

कहीं ऐसा न हो
कोई कंकड़
अकड़ चौकड़ी भर
भर दे विकलता
पनियल नसों में !

रात चाहे कोयला हो
चाहे हो चाँदी-भरी
लकीरते आसमाँ में
नाचती इच्छा-परी,
पत्ते बिखरते जल में
टहनियों से वटों की
और, कोई टहनी···बात अनकहनी
बुदबुदाती
चिड़िया-सीं,
मौन मैं···सिमटा हुआ
आघात सहता हूँ !

सवालों के काफ़िले

अदना हो गया है आदमी
अपनी ही नज़रों में
फुंक गया कलेजा
मज़हबी शराब से,
सरगर्मियाँ बहुत हैं
टूटते निर्णयों में—
भौंटी हो गई हैं
किरणें सचाई की,
आकुल है आत्मा···
पर्दे खिचे माया के
कृत्रिमता का गरल भी
लगता है अमृत-सा !

छलना हो
या हो उसकी सहोदरा
छीन लेतीं ये
चेतन किरण को
भटकती है जिज्ञासा
मरुथल के बीच में,
मिलती नहीं कहीं अब
परिमल की सहजता !

बर्फ़ीली मंत्रणाएँ
निकलने नहीं देतीं
संभ्रम की परिधि से,
अपेक्षित हैं इसके लिए—
साधना···भाव परहित के !

आत्मविनाशक है
प्रवंचना का अन्धकूप
बिहाल कर देतीं
खोखली सुर्ख़ियाँ,
डुबो देती है तल में
इच्छाओं की दासता
परितोष होता नहीं
सवालों के काफ़िले से !

कूज़े में बन्द तूफ़ान

स्याही से लिखे नहीं
कलाम मैंने
हर लफ़्ज़
ख़ूनेजिगर में डूबा है,
ख़्वाब हैं
अक्सर माना है यही
दूर से पुकारतीं
अनसुनी मंज़िलें !

खुश्क हैं हवाएँ
दम घुट रहा फ़िज़ा का
कूजे में बन्द हूँ
ज़िन्दगी का मज़ा क्या ?
समझ नहीं पाया
ज़ुबान मौसम की
साहिल मिले तो क्यों
डूबती किश्ती को !

कुछ साल पहले तक
गर्मजोशी थी बहुत
दहकता था लावा
समूचे बदन में

लेकिन इधर—
चमगादड़ हो गई सभ्यता
समय बहता है उलटे प्रवाह में
चुभ गए हैं नश्तर
ठंडी नज़र के !

कैसा है या अल्लाह
खेल यह कुदरत का
रवानगी रही नहीं
ख़ुद मेरे ही बयान में,
—ठर्रा मिल गया
ह्विस्की के जाम में !

मूर्च्छित वसन्त

प्रभात की सीमा को
दिवस पहचानता नहीं
अक्षमता मन का
देह स्वीकारता नहीं,
लकीर-भर रह गया है
निर्झर का वेग अब
मूर्च्छित हुआ चाहती
वासन्ती माधुरी !

गुमसुम-सी रहती हैं
ग़म-भरी आँखें
महफ़िल में ज़ख्म का
इलाज चाहती हैं !
कभी-कभी लगती हैं
बरसाती साँझ-सी
अस्तित्व की उदासी में
बिना बात बहती हैं !

कौन-सा है लैम्प-पोस्ट
जहाँ पहचानें ख़ुद को ?
छीन लिया लहरों ने
कुतुबनुमा अपना तो !

और हम, विज्ञान-दास
मूल्य जानते नहीं
अपनी ही साँस का
विभ्रम के कक्ष में
अट्टहास करते हैं !

कैसे भुलाएँ दर्द
और, पोंछें—
कौन-से रूमाल से
चेहरे की गर्द ?
उजाड़ बियाबाँ में
चिराग़ाँ करें तो कहाँ ?
मायूस हैं हर तरफ़
होंठ पर चुप्पी सिली !
दुआ माँगी थी ख़ुदा से—
बबूल को बोना पड़ा,
बहारें क़ैद पतझड़ में
बेज़बाँ होना पड़ा !

दस्तक

दस्तक देता है प्रभात पर
जब भी यौवन का उद्वेग
छा जाती प्रतिरूप अरुणिमा
परिवेश के पटल पर
जुड़ जाते नए अर्थ
उम्र की किताब में !

यौवन है मानी
स्फूर्त पवन-सा,
जिज्ञासा की गंध—
हल्की मासूमियत—
मणिकांचन-योग सबका,
खिलते हैं इसीलिए
निस्सीम पुष्प : उत्थान-योग
संकल्प के पौधों पर !

चुनौती चाहिए
सदा युवा-मन को
अलिखित है इतिहास इनका,
अनुशासन में बँधकर भी
स्वच्छन्द हैं ये
तोड़ना चाहते

अर्गल शिलाओं को
ताकि बह सके अजस्र
सदानीरा !

गढ़ता रहता है इन्हें
प्रगूढ़ समय-कुम्हार
सुहृद भी, ज्वलन्त भी
अनगिन रूप दुलार,
न जाने कब कौन रूप
बिजली भर दे
ब्रह्माण्ड की शिराओं में !

कतराते नहीं हैं ये
कटु तिक्त अनुभवों से
माँगते हैं कैफ़ियत
ख़ुद अपनी घुटन से,
रुकना नहीं सीखा
कभी आधे-अधूरे बन
झेलते हैं विफलता
पर्वत-से सीधे तन,
यात्रा करने दो इन्हें
अनजाने डगरों पर,
भूगोल के पटल पर
विदग्धता पाने दो !

अभावों के ताल में

लपलपा रही हैं
ये विषबुझी जिह्वाएँ
विवशता चिपकी है
तन के लिफाफे पर,
बेसुध है आदमी
सन्निपात-रोगी-सा
चाबुक-सी चुभती है
सहानुभूति की कथा !

तीखी फिटकरी—
अस्तित्व हमारा,
डूबते उतरा रहे
अभावों के ताल में,
शोर उठता रोज़
असन्तोष की आहों का,
सहारा होगा भी भला क्या
जड़कटी बाँहों का !

ऐसे में—
नकारें विगत को
या सकारें भविष्य ?
मौन है वर्तमान
हर संदर्भ में !

पेड़ पर टँगी हैं
आस्थाएँ हमारी
बेनक़ाब हो गईं
भुजंगों की मारी,
बदलती हैं करवट
सोचतीं रात-दिन
कहाँ पर तलाशें
बिलाते बादलों को !

आँकना मुश्किल है
बीते पलों को
यानी कर्मजलों को,
जाने कब उतरेंगी
आकाश से लहरियाँ
संकट कटेंगे कब
खोखले विभव के !

सुलगता आदमी

हम सब एक हैं
जैसे फूल-पंखुड़ियाँ
या दाने—
चक्की के पाट के
निराशा और आशा में
प्रतिरूप एक-दूजे के,
संतोष इतना—
स्वार्थ की सिल पर
पिसीं नहीं सब
संवेदनाएँ हमारी !

अर्थवती होती है
आश्वासन की भूमिका
रीढ़ की बग़ल में
खोलती है पृष्ठिका
मौन लेकिन फिर कभी
कर देती कुठाराघात !
उसी एक तपन में
मुग्ध आवेश में
झील के तल से
उभरना हम सभी को !

जब भी ठोकर लगती है
निराकार पत्थर से
मूर्च्छा टूटती है
आम आदमी की !
धुँधलाया नहीं रहता वह
प्रतीक्षा के पलों में
बढ़ते हैं बहुगुणित
बाण तूणीर में !
और तब···
साँचा-भर रह जाता कब ?
क़तार में खड़ा
सुलगता आदमी !

समय की करवट

स्वतंत्रता के प्रहरी थे
जिन दिनों
जनता के नेता
यानी भविष्यचेता,
प्रतीक आकांक्षाओं के
बहुजनहिताय के
बहुजनसुखाय के
तरुणाई को उमंग दे
ऊर्जा जगाते थे,
किन्तु इधर—
क्षण के प्रश्नचिह्न में
कुढ़ रहे
नक़ाब के पीछे :
उद्वेग-भरे
पार्श्वी राजनीतिज्ञ !

रतौंधी हो गई है
आज की पीढ़ी को
उजालापन कहीं है
तो टुकड़ों में बँटा है,
और, छा गई है इस क़दर
स्पर्द्धा सीमातीत हो

रखकर भूल गए हम
संकल्प की धरोहर को,
औपचारिक हो गई हैं
विशेषणों की क़तारें
विवश है विचारक
भटकन के पुतले-सा !

लील लिया है
विस्मरण की कारा ने
हम सबके अतीत को
पूरब से उगा करता था तब सूरज
अब कोई दिशा ही नहीं है,
कल···हाँ, आनेवाला कल
आए भले ही आडम्बर से
डूबना उसे भी यहीं कहीं है !

विगत का रथ

झीनी-सी होती है
व्यक्तित्व की बुनावट
चाहे कितने ही गाढ़े हों
बाने संस्कार के
गूंजते हैं
अन्तराल अतिचार के !

कृती हो कोई भी
प्रकृति उससे बड़ी है,
चढ़ें हम भले ही
सुनहली सीढ़ियाँ
फिसलते हैं कभी तो
काल की ढलान पर
नव रूप देते अन्यथा
कम्पित शिखा को !

ज़िन्दगी महकती है
यौवन के आँचल में
इन्द्रधनुष झाँकते
भविष्य के झरोखे से
सिकता में रुकतीं नहीं
वासन्ती नावें अव

कंधों से झाँकते हैं
वृक्षों के विम्ब सव,
अनुभव से मिलती है
दीप्ति अनुभव को !

सर्जरी अपेक्षित है
ज़ख्मी मान्यताओं की
कब तक राह तकोगे
दूसरों की छाँहों की ?
ऊभ-चूभ कितनी हो
राह चुनो टटकी
नीली न पड़ने दो
पत्तियाँ अबूझ-सी
सहमी हैं नीतियाँ
विगत के रथ की !

भविष्य के गुलमोहर

ईश्वर न करे
ढह जाए
ताश के पत्तों-सा
कहीं कोई ताजमहल !

अधभोगी हैं अभी तो
छरहरी उपलब्धियाँ
अनमने क्षणों से
संरक्षा चाहिए !

राहगीर हैं हम सब
संसार की डगर पर
आक्रान्त नहीं होते
बेमानी संघर्ष से,
फिसलते हैं एक वार
तो गड़ा लेते हैं पाँव
घोंट देते गला
दुःख की साँस का !

सीमित नहीं रहते
किसी एक झील तक हम
चुनौती देते

हर अबूझ व्यूह को
धूमिल नहीं होते
किसी एक की चमक से,
न ही कोई फेन-गुच्छ
—उतरा है जिसमें सूर्य
मोहित करता है हमें !

बचते रहना है हमें
अनुबन्धित कबन्धों से
ढीलनी हैं मुट्ठियाँ
अतीत के ख़्वाब की
ताकि बरस सकें सुधा-से
भविष्य के गुलमोहर !

कबूतर संसद् के

मस्त मदमत्त हैं
अज्ञात अन्तर्गुहाओं में
प्रशस्तपंथी सत्ताधारी
सब नहीं, पर अनेक
समायोजित भुजबल एक
मुद्रा त्रिभंगी…
श्वेत श्याम रतनार !

चुग्गा डालते कबूतरों को
ताकि वे झुकें
चित्रलिखित-से दिखें
और फिर…
लम्बी साँस ले
अटक जाएँ
पेड़ की शाख से !

सामने हैं—
जालियाँ मेहराब की
बीट करते, फैलाते गन्दगी
कुछ कबूतर 'हिमाकती'
तजुर्बा नहीं है उन्हें
कमान के तीर का

ठोकर नहीं लगी अभी
चमन के फूल की !

आवाज़ देते
अरमान बावले
तमन्ना होती
अहाते से उड़ने की
कुछ ऊँचे उठने की
लेकिन विवश हैं अभी तो
संसदी कबूतर
उछाह संकुल, अभिमान आहत;
रोक लेतीं हर सुबह
पट्टियाँ ज़ख्म पर लिपटी हुई !

नदी के मुहाने पर
आँसू बहाते वे
चट्टान की छाँह में
हथियार डालते हैं,
झाड़ियाँ फैलती हैं
जब भी समन्दर में
रेत में लकीर खींच
आशियाँ बनाते हैं !

नरक मुझसे दूर है

गिद्ध नहीं बना
किसी किशोरी के लिए,
तकुए चुभोए नहीं
कुआँरे मातृत्व पर,
मकड़े-सा फैला नहीं
कोण-कोण नग्न देख,
बन्धु, कारण है यही
नरक मुझसे दूर है !

कनकनाहट

संवेदना का अर्थ यह तो नहीं
कि डर गया हूँ;
चुप हूँ
तो न समझो कि चुक गया हूँ,
आपने माँगा उधार
मैंने दिया नहीं
क्या इसलिए कि मेरे पास नहीं !

गीत गाता नहीं,
तो क्या गा सकता भी नहीं ?
नास्तिक हूँ ?
क्या इसलिए कि मन्दिर जाता नहीं ?
अख़बार पढ़ता—
ख़बर गढ़ता,
हो गया, अरे !
राजनीतिज्ञ मैं ?

उलझ गया दिमाग़
किस दाँव-पेंच में ?
क़फ़स ही बदा है
किस्मत में अगर
कनकनाहट फिर
भला किस बात की ?

संवेदना

बंजर हो गई है
वहुतों की प्रतिभा की ज़मीन
कुछ नया तभी लिखते हैं
जब छह दिमाग़ मिलते हैं,
अन्यथा शब्द—
साँप की केंचुल-से कोमल
फिसल-फिसल जाते
दूर किसी टीले पर !

सरल नहीं है
जीवन को आँकना
दुविधाग्रस्त मन में
बाहर से झाँकना,
विश्लेषण कर सकोगे
किस-किसका भला तुम
बीच गंगा में हुआ है
आसमान गुम !

शाश्वत नहीं हैं
हम···या हमारा स्वर,
आलोड़न के चक्र में
ठूँठ हुए जाते हैं,

भटकते हैं निरुद्देश्य
सँकरी पगडंडियों पर
बदनाम करते
रिश्तों की समझ को !

बदल जाते हैं अर्थ
संवेदना के
सुबह से शाम तक,
सुबह होते हैं बुद्ध
शाम को ख़ैयाम,
कर नहीं पाते
अपना ही सामना !

रहसमित्र

रहसमित्र !
रहने दो शब्दों की मरीचिका
द्वन्द्व नहीं मेरे मन में
न पीड़ित हूँ जड़ता से
बाँधोगे कैसे
तुम ऐसे
हिरनी-सा···मेरा मन !

शब्द-व्यवसायी हो तुम,
लेकिन, मैं
चाहती अमृत अर्थ का,
भटकने दूँ फिर क्यों भला
अपना कांचन विहग
शब्दों की धुंध में !

मैं भी हूँ कुछ—यह एहसास
सृष्टि मेरी भी—यह विश्वास
बँधूं फिर क्यों
भला मैं
व्यर्थ शब्द-जाल में !

मरुस्थल में वसन्त

धरती के भीतर
लिपटे नाग
शत-शत अब्द-जड़ों से
करते रहे दुग्धपान
संस्कृति की सुरभि का जो,
भविष्य मेरा
सुरक्षित वहाँ है !

यायावर हूँ
जलानी है अन्तस् की जोत मुझे
आलोकित करनी हैं—वे सब शताब्दियाँ
दबा लिया है जिन्हें
तमस की शिलाओं ने
बन्दी हैं
कारा-कन्दराओं में !

हो रही है गर्जना प्रलय की
लाँघने हैं मुझे
बैठ बवंडर-पंख पर
समुद्र-दर-समुद्र···ज़हर के !
खोजना है भविष्य
धुएँ के कणों में !

दहकते हैं स्वर···बाँसुरी के
हर त्रासदी की किरिच पर,
अभाव हैं धुंध-से
रक्तबीज दूसरे
जैसे कोई पत्रहीन विअंकुर विटप हो !

पहचान है मुझे
साँझ की गन्ध की
पूरब में खिलेगी
कली उसी छन्द की
बदरंग रहेंगे नहीं
कालिख-पुते चेहरे
        मरुस्थल में उगेगी
        सुषमा वसन्त की !

सैलाब-दर-सैलाब

स्वप्न-सुन्दरी तो नहीं है वह ।
—शायद रही हो कभी
छूट गया पीछे सब
नाम···
ग्राम···
अभिराम !
आज तो वह नूरी है,
सबकी प्रिया,
जनपद-कल्याणी !

नूरी !
बनाम
सिर्फ़ सत्रह वसन्त
अनुभव विशाल
बहुत सिखाया है
आदमियों की भीड़ ने !
माहिर वह
आँसू ढँक मुस्कराने में
पीले पत्तों पर हरा पेंट
सीखे तो सही कोई उससे !

पूरब का उजास
साँझ बन जाता है

नूरी के लिए,
उतरतीं घुँघरू बाँध
रात की परियाँ
नंगे हो जाते
सैलाब-दर-सैलाब
शायद रोज़
भावहीन धरती पर !

नूरी ! तुम तक तो पहुँचेगी नहीं
करुण गंध मेरी
आँजती हो तुम
काजल जो बह रहा
डरतीं, चौंक उठतीं कभी
पदचाप तक से
सुन नहीं पातीं
आवाज़ अपनी ही साँस की !

मौसमी थकान

ऊँट के मुँह में···
कद्दू धरिए, जीरा नहीं,
नहीं तो यार
बात बनेगी नहीं !
फिसलकर गिर पड़ेंगे स्वप्न
शिखर पर चढ़ने के !

सुना है—
आजकल चन्दन बहुत घिसते आप
सुवासित करने को नहीं
महज़ रहने को,
घिरते हैं जब भी
गर्दिश में सितारों की—
सितार बजाते
एक पैर पर खड़े,
उसी सितार-ध्वनि का
अहेरा हुआ हूँ मैं
सिर झुकाए हूँ
तिलक कर दीजिए !

दाद दीजिए दूरदृष्टि की
उड़ती चिड़िया पहचानते हम
सहनशील हैं

ज़ुबान कीलते नहीं
रौरव में भले रहें आप कल !

निछावर हैं आज
दयानत पर आपकी
उतार दी आपने बेमौसम
मौसमी थकान,
आँच को सहेजते
काँच के बीच आप,
—बलबलाते ऊँट-से
बात फबेगी नहीं,
हरियाली दूर-दूर तक
मिलेगी नहीं !

शुभचिन्तक हैं हम
आपके···आपकी गिज़ा के
पसलियाँ अपनी
आप पहचानते नहीं;
कम्प-भरे होंठों से
जाने बुदबुदाते क्या
क्यों लगते हैं आपको
त्रिशूल भी फूल-से ?

पीतल के अधन्ने-से

गंजे को नाज़ है
झाड़ी-सी मूंछ पर
नाज़ है बिलाव को
अपनी खड़ी पूँछ पर
कैक्टस के जूड़े से
गौरवान्वित महिलाएँ
आड़ी-तिरछी लकीरों-सी
नाजुक अदाएँ !

उधारी मुस्कान की
पहुँच वस गोंद तक
मन्दिर की सीढ़ियाँ
पुजारी की तोंद तक,
रहना चाहते मुक्त
तो खोजो मरुस्थल को
चाँदनी रात का समाँ
जुड़ती हैं
गिद्ध-पंक्तियाँ जहाँ !

कत्था
अधूरा है चूने के विना,
सीखोगे कैसे···उससे

कत्थक नृत्य ?
गांधी वनोगे भला क्योंकर
घुटन्ने परिधान से ?
कान काटोगे नहीं
तो जाओगे जान से !

बुझ गई है आग
सुरविहीन है
अन्दर का राग,
निर्वाक् भला क्यों
पीतल के अधन्ने-से ?
सुलझेगी समस्या
एक अदद गन्ने से !

ऊर्जा चुकती जब कभी

भीष्म—
शर-शय्या पर लेटा
एक विभाजित व्यक्तित्व
निपूता पितामह
आत्महत्या अविहित नहीं थी
शायद उन दिनों !

कर्ण—
एक कुंठा अवैध सम्बन्धों की
ग्लानि ओढ़ ली जननी-जनक की
अग्रदूत···अकारण तितीक्षा का
जेब कटवाता रहा
जीवन-भर धर्म मान !

अर्जुन—
द्रौपदी नज़र आई थी जिसे
मछली की आँख में
विभाजित—पाँच खंडों में हीरकनी
नियति की कला कितनी अनोखी !

एकलव्य—
बेटा वन्य जातियों का

विकलांग !
विद्रोह की हर लहर का मूल उत्स !

और मैं—
इन सब स्थितियों का भोक्ता
दूर होकर भी नहीं अजनबी
पाता हूँ प्राण-रस
ऊर्जा चुकती जब कभी !

फ़ासले

वल्लाह, बुज़ुर्ग हों तो
आप जैसे
ख़ुद तो चाहें बहिश्त
और, जहन्नुम
हम सबके हिस्से !

कहने को
दरियादिल हैं आप
बादल-से
लेकिन, आँज रखीं आँखों में
राख की डोरियाँ
हम सबको भुलाने को
गाते हो लोरियाँ !

बड़े अबूझ तेवर हैं
सुबहोशाम आपके !
वरना तौबा करते क्यों
आप अपने बाप से !

चचा, अर्ज़ है ख़ादिम की
सिर्फ़ इतनी-सी
आप भी जवाँ थे कभी
पीठ ठोंकी जब

मरहूम दादाजान ने !
पर आज—
ज़माने से जले-भुने
इन्तज़ार कर रहे आप
कब लड़खड़ाएँ हम ?

दरार

मछलियाँ तो ताल में बहुत हैं
मौन, कोमल, झिलमिलाती,
किरण-सी गतिशील
विरलतम हैं धीरवदना
शेष सब असहाय
झेलती हैं दंश
हिलोरते जलसर्प के
काँपतीं आपादमस्तक
दूर की सैकत शिला से !

चींटियाँ भी बहुत हैं
अराल हैं भ्रू-रेख !
मकोड़े स्थूलवदन
उन्हें पहचानते नहीं,
या यों कहें—
स्वप्न-नर्तन दंभ का
पहचानने देता नहीं !

ऊँची दहाड़ सुनतीं जब
चिड़ियाएँ डाल की
दहशत हर दिशा से
दबोच लेती है उन्हें
हो जाती सफ़ेद राख

फड़फड़ाहट पंखों की
मिलता नहीं भविष्य
अपूर्ण विश्व में !

बिछुड़ती झुंड से
जब हिरनी किसी शाम को
अनुभव का कल्प-विटप
जल उठता ज्वाल-सा
अकुलाती है आत्मा
अस्तित्व के बवंडर में
दीख पड़ते सभी ओर
शैतान के वंशज उसे
और, फिर—
पड़ जाती दरार
तब अपने ही दर्पण में !

भाल पर चिपका शनि

न जाने किस क्लान्ति की देन है
कौन-से पाप का प्रतिफल
झोली फैलाने की विवशता
कुतर रही पल-पल !

भिक्षा—
अबूझ प्रक्रिया,
उलझे हुए मन की !
क्षितिज की ओट से
चिपक गया जैसे
प्रश्नचिह्न शनि
भिक्षुक के भाल पर !

हाथ फैलाती जब भी
अधसूखी आकृति
पीली पड़ जाती
अम्बर की नीलिमा
बोझिल हो जाती और
सर्वग्राही शिला !

रोज़ कोई महोत्सव
दुरदुराता है
दीनता के देवता को

रोज़ किसी झुग्गी में
सिसकती है
दैन्य-दवी आत्मा
रोज़ बँटती है मिठाई
महल खड़े होने पर
रोज़ विपुल झूठ पर
उन्नति पनपती है
अवतार नहीं होता
अब किसी देवता का !

मनुष्य की मर्म-व्यथा
पहुँच गई हताश
पक्षियों के घोंसलों तक
कलरव नहीं करते
आजकल वे शाम को,
अशान्त है
गन्ध-सी स्वच्छन्दता
संवेदना के पलों में !

आह, इतनी निर्धनता !
इतना संत्रास ! !
शब्दकोष में रह गया
जिजीविषा ··शब्द-मात्र !

धुंध से उबरते धर्मराज

काँटे-ही-काँटे हैं
ख़ुरदरी ज़मीन पर
मद्धम-सी चाँदनी में
सरकते हैं अजगर,
और तब—
मार्जार-बन्धु
पुण्यात्मा धर्मज्ञ जन
करते हैं—
शंका-निवारण
आँखें झपकाकर !

साम्राज्य नहीं है
सिर्फ़ इसी ताल-लय का
झंझा में अविचलित
रहतीं तरु-पाँत कब ?
झाँकतीं कामनाएँ
दर्पण में मन के
अकूला आत्मसरिता
ठहराव से दुखी है !

आजकल धर्म नहीं
धर्म के अग्रदूत

रहते हैं हावी
भटकते समूह पर,
उदार होते कुछ तो
स्वर्ण सुन्दरी पर,
टाँकते दुकूल
तृष्णा का स्कन्ध पर,
पद्मासन जमाए हैं
थिरकती लहर पर !

सार्थक है धर्म
टपका सके
रोटी से दूध जो
यात्रा करेंगे!
एक से अनेक तक
तभी तो,
चिपका सकें
क्षितिज की पीठ पर
धुंध से उबरते
धर्मराज को !

संवादहीन स्थितियाँ

मूल्यहीनता के समुद्र में
डूबती-उतराती पीढ़ी के
प्रतिनिधि चेहरे हैं हम !
दरमियानी रहती प्रगति हमारी
रौंद दिए जाते
निरर्थक सिलसिलों से !

कलम घिसता है वर्तमान
अतीत की चट्टान पर
टेढ़ी हो गई है निब
ढलान के उठान पर,
छा गया कैसा कुहासा
हर ज़नख़ायी ज़िन्दगी में
तनहा हो गए हम
भविष्य के एहसास से !

व्रण-भरी धरती
अस्तित्व नकारती,
तस्वीर खिंच गई
धुँधले विषाद की,
स्थितियाँ संवादहीन
तटस्थ हो गईं सब
क्षीण हुआ स्वाभिमान

उफनते समुद्र में,
मानो घिर गई रोशनी
किसी निर्मम निलय में !

झुर्रियाँ पड़ गईं
सन्नाटे-बदन पर
काले पड़ गए हैं खेत
हरे आसमान के,
कुंज तो सघन हैं
तनाव भोगते हम
समतल ज़मीन पर
पत्थर विषम !

मँडरा रहे हैं गिद्ध

दर्द की लहर
उठ रही है सीने में
गिन सकते हो
एक-एक हाड़
नक़्शे की लकीर-सा
फिर भी—
मानता हूँ मनौती
पढ़ता चालीसा
मंदिरों में !

मँडरा रहे हैं गिद्ध
पीत भीत देह देख
आँखों के गोलक
मकड़ियाँ खोजते हैं
ताकि वे बुन दें
एक जाला चारों ओर
सुरक्षा-कवच
दारुण प्रारब्ध से !

भृकुटियाँ तानते हैं
अनन्त के प्रहरी सब
सर्दी से बचने को

धूप माँगता हूँ जब,
रचते षड्यंत्र
ज़िन्दा दफ़नाने को
निचुड़ा सब ख़ून
मसान के क़रीब ही !

गुम गई अस्मिता
भीड़ के सैलाब में
थम गया धुएँ-सा
निराकार वर्तमान
जीने नहीं देता
लुढ़कती सीढ़ियों पर
रोज़ पोज़ भरता है
छबीले दैत्य-सा !

अनजानी लकीरें हैं
बेंधते तकुओं-सी
हिचकी-भरी आहों में
व्यग्रता पुकारती,
ढूँढूँ कहाँ ख़ुद को
बँध अनिश्चय की बाँहों में
—शोणित की गुफाओं में !

तीसरा नेत्र

ऊधम मचाती हैं
जव भी कभी पुतलियाँ
धुएँ की लकीर पर
नर्तन दिखाती हैं
पिघलकर बहता है
सहमा हुआ अँधेरा !

नेशनल पार्क हों
अथवा कुतुबमीनारें
पूरी सृष्टि
पतझर है मेरे लिए,
हर सुबह है
उदास साँझ
दर्द-भरी
प्रौढ़ा वाँझ !
बहला नहीं सकेंगे
ध्वनि, स्पर्श, गन्ध, रस
चितवन की प्रहेलिका को !

एशियाड हो या ओलम्पिक
लहरों से शून्य है
मेरा आकाश तो

अस्तव्यस्त वर्तमान
पंगु हो गया है !
विवश हूँ
विशदताओं के बीच में
जबड़े-खुली वस्ती में
अदना-सी इकाई हूँ !

शताब्दियों में जनमती है
कहीं कोई कीलर,
असमंजस-मुक्त सूरदास
या विराट् मिल्टन
रोज़ नहीं होते हैं !
वैसी वज्र-मुट्ठियाँ
उच्छ्वास-भर मेरे किए
कुछ भी नहीं होगा
क्या कभी मेरे लिए ?
सोचता हूँ रोज़, हर रोज़···रोज़-रोज़
शिवभक्ति भला किस काम की ?
खुलता है नेत्र तीसरा
सिर्फ़ दहन ही के लिए !

निष्कवच

झेल सको तो झेलो
यातनाएँ···कुंठाएँ···या कि
अपूर्ण अनुभूतियों का चीत्कार,
अन्तर को चीरकर
पैठ गया जो
झनझनाते कोलाहल में !

हो सके तो
ले लो···बाँहों में
ठिठुराती आस को
होने दो विभोर
प्रतप्त पारदर्शी श्वास को !

स्तब्ध क्यों हो
देह पर जोंक देख
उतर रही क्यों नहीं
उदासी पलक से ?
बिगुल है मौन क्यों
किरणों के हास का
चमक-भरे बोध को
निष्कवच रहने दो !

ज़िन्दगी अधफली
अशान्त है, अपूर्ण भी
व्यग्र विरूप स्वप्न में
भरमाई शून्यता,
निराकार अदृष्ट दु:ख
माँजता है भाव को
समय वह शल्य वैद्य
भर देता
रिसते घाव को !

भूल गए—
निर्वासन मिला था राम को
वनवास युधिष्ठिर को भी,
रिक्त नहीं हुए वे
न तपे तपेदिक रोगी-से !
···अच्छा हो
बाँसुरी वजाओ तुम
वीरान ढूह पर
शिखर का साहस दो
अधूरे परिवेश को !

गन्ध की सुगन्ध

अनसुनी करते हैं जब भी
प्राकृत पुकार को
ज़ंग-लगे सत्य-सा
शून्य घिरा आता है,
भावना हताश हो
पटकती सिर पत्थरों पर
जैसे कोई अस्थि-पुंज
तालबद्ध गाता हो !

सम पर अब लाएँ
विपरीत गुण-धर्म को ?
ऋतु जब असन्तुलित
प्रश्न जोड़-घटा के—
तो हर गणक को
ख़ुदा याद आता है,
उकेरो तो बालू में
नाभि कस्तूरी की
शायद उसकी गंध ही
अस्तित्व को सकार दे !

सचमुच परेशान हो
लाल-नीली आग से ?
या अन्तहीन शाप ने

मेमना बना दिया ?
अथवा, कोई उल्कापात
छोटा कर गया
वुजूद को ?
आघात क्यों झिलता नहीं
झूठे व्यापार का ?

सँभालना है खुद तुम्हें
डूबती-सी नब्ज़ को
क्योंकि कहीं···
कोई करिश्मा होगा नहीं,
अब भी जुड़ी है संस्कृति
किसी आदिम गंध की सुगंध से
मन्तव्य ऊँचा चाहिए
धमक भी मिल जाएगी !

बर्फ़ से बारूद तक

घिसी लीक पर चलते नहीं
देखते कनखियों से
चिहुँकते, हुमकते, हमेशा गमकते
पक्षधर अपने, उसके, सभी के
ज़ख्म लेकिन
ठट्ठ के ठट्ठ हैं
यहाँ के, वहाँ के, कभी के !

संवेदना यों ही उपजती नहीं,
उपजती—
फलीभूत होती नहीं,
इसीलिए, करवट ले
द्वंद्व-गंध गुहा में
पोंछते पसीना हम !

विवर हो, तराई या कि पहाड़
कोंपल ललौंही, पत्ते पिलियाए
लिपटा हर गुदड़ी में
अलग ही इतिहास,
हम हैं/नहीं भी हैं
इन सबके···उमसते ग़म के
तारनहार !

रेत, पगडंडी और सड़क
धरा का घायल वक्ष ;
महज़ घिसटते हम !
तामस व्यूह में अभिमन्यु-से
विमूढ़, गुपचुप, भ्रमित
ललकारते
परछाईं अपनी ही,
सहेज नहीं पाते
कटी जेब में
इन्द्रधनुष !

तमसाच्छन्न व्योम के प्रबुद्ध नक्षत्र-से
छिपते-दिपते अपनी ही झोंक में,
अधूरी कांति गुनगुनाते इरादे
तराशते अँगार को
तलीय बुलबुलों में !

बर्फ़ भी हैं/बारूद भी हम
दर्द की धड़कन···कुतरती भूख भी
ऊर्जासहित/ऊर्जारहित
प्रेरणा के दीप हैं !

अधुनातन हैं :
सीमाहीन है सीमा अनुभूति की,
कसकती
छूती है जब भी
जीभ पपड़ियाए होंठों को,
विचार···फूट पड़ता बुदबुदाकर
शायद कोई मसीहा
दर्द में सुलगता है !

छलावा है
अभिराम भुलावा है
भरोसा करें कौन-से मनुज पर ?
क्या उस पर
जो सत्य को कील दे ?
आचार उमेठ दे ??
कुंठित कर दे भावी भविष्य को ???

नहीं, रुग्ण रहेंगी नहीं
अब विभीषिकाएँ
जन्म देंगी आग को
चट्टानें बर्फ़ की !

●●



डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त

जन्म : २० दिसम्बर, १९३३, दिल्ली।

शिक्षा : दिल्ली विश्वविद्यालय : एम० ए० (१९५३), पी-एच० डी० (१९५९), डी० लिट्० (१९७२)।

कार्य-क्षेत्र : आचार्य, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

कविता-संग्रह : अंगुल-भर खरोंच, अंजलि-भर जुगनू, दूब की ज्वाला, बर्फ़ से बारूद तक, घुन-लगे चौखटे, क्षितिज में टँकी किरण, अपने-अपने रंग (तुक्तक)।

लघुकथा-संग्रह : यहाँ से वहाँ तक।

उपन्यास : देवयानी।

जीवनी : भारत की महान् आत्माएँ।

आलोचना : हिन्दी-कवियों की काव्य-भावना, काव्यानुशीलन, हिन्दी-काव्य-दर्शन, काव्य-विवेचन, तुलसी का काव्यादर्श, हिन्दी-गद्य-साहित्य, समीक्षात्मक निबन्ध, शोध और समीक्षा, महादेवी की साहित्य-साधना।

शोध-प्रबन्ध : आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त (पी-एच० डी०)। भक्तिकालीन कवियों के काव्य-सिद्धान्त (डी० लिट्०)।

अ